

एक आम स्कूल किस तरह चलता है? स्कूल के निर्णय किसके हित में लिए जाते हैं? इसमें बच्चों के सीखने-सिखाने के मुद्दों को कितनी जगह मिलती है? इत्यादि ऐसे सवाल हैं जो स्कूल के स्वरूप को गढ़ते हैं। यह अनुभव एक स्कूल के दैनिक जीवन, स्कूल के सामाजिक संदर्भ, रोजमर्रा की चुनौतियों और स्कूल संचालन के विभिन्न पहलुओं से पाठक को रूबरू कराता है।

एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने

फ़राह फ़ारूकी

परिचय

दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी श्रीराम कॉलेज में बीएलएड कोर्स से जुड़ी रहीं। आजकल जामिया मिलिया इस्मालिया के शिक्षा विभाग में एसोशियट प्रोफेसर हैं और दिल्ली एजुकेशन सोसाइटी से संबद्ध हैं।

यह पन्ने स्कूल के साथ मेरे रिश्ते की दास्तां बताते हैं: सीखने समझने की, खुशी और दर्द की, उम्मीद और नाउम्मीदी की। यह दास्तां वाबस्ता है स्कूल से जुड़े लोगों के बराबरी और ग़ैरबराबरी के रिश्तों से, आवाज़ें जो सुनी जाती हैं और जो सुनाई ही नहीं पड़तीं, पहचान से यानी कि अस्मिता के मुद्दों से, सरकारी नीतियों और उनके नतीजों से, बच्चों की उड़ान से और टूटते ख़्वाबों से। पहले लेख में स्कूल का छोटा-सा तआरुफ़ है, लेकिन आगे की कड़ियों में अलग-अलग विषयों को आधार बनाकर लिखने की कोशिश करूंगी।

सरकारी मदद से चलने वाला यह मज़दूर परिवारों के बच्चों का 'साधारण' स्कूल, शायद, हर स्कूल की तरह, एक आम और एक खास इदारा (संस्था) दोनों ही है। मेरे ख़्याल में यह दोनों ही एक बड़ी वजह हैं कि इस स्कूल के बारे में लिखा जाए। यह स्कूल एक आइना है लाखों आम परिवारों के बच्चों के स्कूली ज़िन्दगी के सच का - रोज़मर्रा की जद्दोजहद, छोटी-बड़ी कामयाबी, खुशियां, कमियां, ज़्यादतियां - इन सबका एक साफ़-सा अक्स। तालीमी लिटरेचर में ऐसे आम स्कूलों के तज़करे की आज भी एक बड़ी कमी है, जिस वजह से यह ज़रूरी हो जाता है कि इस आम से स्कूल की तस्वीर सामने आए। ऐसी तस्वीरें मदद दे सकती हैं, बेहतर शिक्षा नीतियां बनाने में या शिक्षा से जुड़े फैसले लेने में। यह शैक्षिक विमर्श का आधार बन सकती हैं और मुख्तलिफ़ भागीदारों, खासतौर पर अध्यापकों के बीच व्यवसायिक चर्चा के सिल-सिले शुरू करने में मददगार होंगी।

दूसरी तरफ़ यह बहुत माइनों में एक खास इदारा भी है। यहां, बच्चे और स्टाफ़ मिलाकर तक़रीबन 97 फ़ीसदी लोग मुसलमान हैं। ऐसे

इदारे से जुड़े यह लोग अपनी पहचान के बारे में क्या सोचते हैं? और, यह पहचान बाहर की दुनिया में किस नज़र से देखी जाती है, इन दोनों का आपसी ताल्लुक अस्मिता से जुड़े कैसे मुद्दे उभारता है। और इसका संबंध बच्चों की तालीम से है या नहीं, इसका एक जाएज़ा लेना ज़रूरी हो जाता है। इस स्कूल में पढ़ाई-लिखाई का माध्यम ज़्यादातर सैक्शन में उर्दू है। जहां एक तरफ़ यह ज़बान भाषा की सियासत का शिकार है, दूसरी तरफ़ इस खूबसूरत ज़बान का झण्डा थामे लोग और बच्चे समाज में एक खास नज़र से देखे जाते हैं। इन्हें यह ज़बान किस तरह की नई पहचान कराती है, यह समझना अपने-आपमें ज़रूरी है। क्या यह ज़बान इन्हें इनकी कामयाबी की मंज़िल तक पहुंचाने में मदद करती है या फिर काम और कमाई की दुनिया का तसव्वुर लिए इन बच्चों के रास्ते और मुश्किल बना देती है? स्कूल में आने वाले काफ़ी बच्चे उत्तर प्रदेश और बिहार से आते हैं जो उर्दू, हिन्दुस्तानी और हिन्दी के अलग-अलग रंगों में अच्छी अभिव्यक्ति कर पाते हैं। स्कूल की एक और खासियत इसका पुरानी दिल्ली के इस इलाके में स्थित होना है।

पुरानी दिल्ली की अपनी एक निराली खूबसूरत तहज़ीब है। इस तहज़ीब का हिस्सा वहां के खास अदब, आदाब, ज़बान, खेल, खाने, कारोबार जैसी चीज़ें हैं। क्या यह स्कूली ज़िन्दगी को प्रभावित करती है? या क्या इनकी झलक स्कूली पाठ्यक्रम में मिल पाती है? या फिर दोनों एक-दूसरे से दामन बचाकर ही निकल जाते हैं? इस स्कूल में आने वाले काफ़ी बच्चे छोटे-मोटे कारख़ानों में अपना पसीना बेचकर या किसी कारोबार की छोटी-मोटी कड़ी के रूप में अपने परिवार की माली हालत में मदद करते हैं। इनकी रोज़ की ज़िन्दगी के सख़्त तज़ुरबे इन्हें खास कौशल, समझ और दुनिया के कारोबार को समझने की एक गहरी और बारीक नज़र देते हैं। पाठ्यक्रम और कक्षाओं में इन बच्चों को ध्यान में रखा जाता है या नहीं, इसका एक जाएज़ा लेना फ़ायदेमन्द होगा। इन सभी खासियतों का एक तफ़सीली तज़करा आने वाली कड़ियों में करूंगी।

एक बेनामी तआरुफ़

स्कूल का तआरुफ़ बग़ैर इसका नाम लिए करवाना कितना ठीक है? हां, स्कूल की बारीकियां बयान करने के लिए और एक साफ़ तस्वीर बनाने के लिए इसके सामाजिक और जुगराफ़ियायी संदर्भ को समझना ज़रूरी है। लेकिन, दूसरी तरफ़, मुनासिब यह होगा कि थोड़ा ठहरा जाए ताकि हम किरदारों के बारे में जल्दी से कोई राय कायम न कर लें: जैसे स्कूल के प्रिंसिपल जो मेहनत और मशक्कत का नमूना हैं, लेकिन यह बात इस एक लेख से ज़ाहिर नहीं होती है। मुझे यह भी डर है कि स्कूल के अध्यापकों में से कोई अगर यह लेख पढ़ेगा तो उसे यह बयान एक 'नाउम्मीदी के शिकार मैनेजर' का लगेगा; यह उनकी हिम्मत पस्त कर सकता है, जोकि नाइंसाफ़ी की बात होगी। मैंने यह सब सोचते हुए आख़ीर में या फिर थोड़ा रुककर, नाम बताने का फ़ैसला किया है।

यहां पर इतना कह देना काफ़ी होगा कि यह स्कूल और दो दूसरे स्कूल एक सोसाइटी की निगरानी में चलते हैं, जिसका नाम है दिल्ली एजुकेशन सोसाइटी। इस सोसाइटी और स्कूल की अपनी एक पुरानी लम्बी तारीख़ है जो डॉ. ज़ाकिर हुसैन जैसे नामी-गरामी फ़िलौस्फ़र्स से भी जुड़ती है। किसी आगे के लेख में स्कूल की सामाजी तारीख़ के बारे में लिखने की कोशिश करूंगी।

आज से करीब तीन साल पहले मुझे इस स्कूल से जुड़ने का मौक़ा मिला। सरकारी मदद से चलने वाला यह अक़ल्लीयती इदारा पुरानी दिल्ली के क़दीम आबादी वाले इलाके में स्थित है। इस डबल शिफ़्ट स्कूल में छठी से बारहवीं तक की कक्षाएं सुबह लगती हैं और प्राइमरी जमातें दोपहर बाद। यहां करीब 1100 बच्चे पढ़ते हैं जिनमें से, जैसा कि कहा जा चुका है 97 फ़ीसद मुसलमान हैं। इनमें 9 फ़ीसद लड़कियां हैं। ज़्यादातर बच्चे मज़दूरी करके पेट भरने वाले परिवारों से हैं। इन परिवारों में कुछ लोगों के हाथ में हुनर है और यह लोग उनके मुक़ाबले में जो कोई कारीगरी या हुनर नहीं जानते ज़्यादा पैसा कमा पाते हैं। तकऱीबन 20 प्रतिशत बच्चों के परिवार वाले कई पीढ़ियों से इसी मुहल्ले में रहते चले आ रहे हैं। बाक़ी, तकऱीबन दस-बीस साल पहले पास के शहरों और इलाकों से काम की तलाश में और बच्चों की बेहतर शिक्षा की ख़ातिर दिल्ली आए और पास के मुहल्लों में या पूर्वी दिल्ली की घनी मुसलमान आबादी वाली जगहों पर बस गए।

इस बात का अन्दाज़ा शुरू के कुछ दिनों में ही हो गया कि हर स्कूल और स्कूली ज़िन्दगी का सच एक-दूसरे से बहुत अलग है। इन बातों को 'एकसा' समझकर स्कूल में दाखिल होना और दखल देना हिमाकृत है। कुछ उस्तादों की सिफ़ारिश पर और यह सोचकर कि ज़्यादातर स्कूलों में प्राइमरी कक्षाएं सुबह में लगती हैं, ताकि छोटे बच्चों को शाम में परेशानी न हो, समझा कि शिफ़्टें अदल-बदल कर दी जाएं। बातचीत के दौरान और कुछ आंकड़े इकट्ठे करने पर पता चला कि ऐसा करने से बहुत से बच्चे, जो सुबह स्कूल से निपट कर देर रात तक काम करते हैं, स्कूल छोड़ देंगे। क्योंकि, शाम में कम कक्षाएं लगती हैं, बेहतर इन्तज़ाम को ध्यान में रखते हुए यह भी सोचा कि आठवीं तक की जमातें शाम में लगाई जाएं। स्कूल के अध्यापकों का सूचनाओं पर आधारित अन्दाज़ा है कि पांचवीं से ही तक़रीबन 25 प्रतिशत से ज़्यादा बच्चे काम में जुट जाते हैं, इसलिए यह करना भी मुनासिब नहीं है। ज़रूरत इस बात की है कि हर बच्चे की सामाजी, आर्थिक, और पारिवारिक तस्वीर बनाई जाए ताकि स्कूल से जुड़े फ़ैसले लेने में आसानी हो।

पहले दिन का नज़ारा

स्कूल में पहले दिन का नज़ारा जो मेरी आंखों के सामने से गुज़रा अपने-आपमें ही काफ़ी कुछ बयान करता है। पहले से इत्तला करना कि "मैनेजर साहिबा तशरीफ़ लाएंगी", कुछ अटपटा-सा लगा और मैं स्कूल यूंही पहुंच गई। देखा कि बड़ा लोहे का गेट बन्द है। दरार से झांका तो छोटे से मैदान के आगे, स्कूल की इमारत के पास, चपरासी साहब कुर्सी पर बैठे सामने कोने की तरफ़ टिकटिकी बांधे कुछ देख रहे थे। जब उन्हें अन्दाज़ा-सा हुआ कि मैं अन्दर झांक रही हूँ, तब भागकर आए और गेट का ताला खोला - समझ गए कि नई मैनेजर आई हैं। अंदर कदम रखते ही जिस कोने को वह बैठे तक रहे थे उस तरफ़ नज़र गई तो देखा कुछ बच्चे दीवार कूद रहे हैं और कई अन्य इसी कोशिश में हैं। इमारत के गेट में दाखिल होते ही प्रिंसिपल साहब का कमरा पड़ा, उन्हें कुछ अध्यापकों और मुहल्ले के लोगों के साथ मसरूफ़ देखकर मैं आगे बढ़ गई। चपरासी के बताने पर वह भी मेरे साथ हो लिए। कुछ ही देर में अन्दर एक कशमाकश और क़यामत का सा मंज़र था। देखा, बीच में एक छोटा-सा मैदान, बल्कि दालान कहा जाएगा, वह है। इसके तीन तरफ़ पुरानी एक-मंज़िला इमारत में कमरों के सामने बरामदों में बच्चों की खूब चहल-पहल, भागा-दौड़ी चल रही थी। चौकोर दालान की चौथी तरफ़ नई बिल्डिंग है - नई से मतलब है - पुख़्ता, तक़रीबन दस साल पहले बनी इमारत। बीच मैदान में अध्यापक कई समूहों में खड़े चाय पीते, धूप सेकते और बातचीत करते नज़र आए। कई स्टाफ़ रूम में भी थे। अपनी गैरज़रूरी ताकत का अन्दाज़ा उस वक़्त हुआ जब बेचारे बच्चे, जो अपने खेलकूद में और बातों में मशगूल थे, क्लासों की तरफ़ हांके गए। कुछ बच्चों ने जब अपने उस्तादों को हाथ में कप लिए कमरों की तरफ़ भागते देखा तो पीछे-पीछे खुद भी भागे, बग़ैर यह जाने कि ऐसा क्यों हो रहा है। अजीब भगदड़-सी मच गई। कई बच्चे मुझसे टकराते-टकराते बचे। हां, यह बताना ज़रूरी है कि सब सेक्शन मिलाकर बीस क्लासों में से दो या तीन में पढ़ाई-लिखाई की कोशिश शोरोगुल के बीच में भी जारी थी। चहल-पहल और शोर जो उस बोसीदा इमारत को जान बख़्शा रहा था, डूब-सा गया और कुछ ही देर में एक ख़ामोशी-सी छा गई। प्रिंसिपल साहब के कहने पर, जो इस दौरान साथ ही में थे, कुछ कक्षाओं के अन्दर पहुंचे। बेरंग दीवारों से झड़ता प्लास्टर, और क्लास के कोने पीक के धब्बों से रंगे हुए थे। अंधेरे से कमरे में टूटे, छिदे ब्लैक बोर्ड पर लिखाई साफ़ दिखाई नहीं पड़ रही थी। फ़र्श पर बड़े-बड़े गड्डे थे जिस पर टूटे-फूटे डैस्क और कुर्सियां पड़े थे। इन पर बैठे कुछ हैरान-परेशान से बच्चे मेरा जाएज़ा ले रहे थे।

आज भी उस वक़्त के बारे में यह सोचकर मैं घबरा-सी जाती हूँ कि क्या यह ख़ामोश किए गए बच्चे ख़ामोशी की ज़बान सीख जाएंगे? क्या इन्होंने सत्ता के कई स्तर भांप लिए होंगे? और क्या अपने उस्तादों की उस वक़्त की बेबसी, चाहे उसकी वजह शिक्षा और समाज का आपसी ढांचा हो या फिर उनकी अपनी कमी, क्या इन बच्चों को बेबसी के शिकंजे से आज़ाद होने की शिक्षा दे पाएंगी? क्या वह अपने वजूद के सामाजिक व आर्थिक आयाम बदलने के काबिल हो पाएंगे? क्या ऐसे स्कूल से भी इनकी उम्मीदें वाबस्ता हैं? चुनौतियों का एहसास मुझे होने लगा था।

आखिर स्कूल किसका है ?

इन पेचीदा सवालों के भले ही बहुत साफ़ जवाब न मिले हों, लेकिन इस सवाल का कि आखिर स्कूल किसका है और किसके लिए काम करता है, एक-सवा साल के अरसे में कुछ हद तक नुमाया-सा जवाब मिल पाया। अगर स्कूल से जुड़े लोगों को सत्ता और सामाजिक श्रेणियों के चश्मे से देखें तो स्कूल के फैसले ताक़तवरों के सामने झुकते हुए दिखाई पड़ते हैं। सत्ता की कमज़ोर, निचली सीढ़ी के रूप में तो बच्चे ही उभरते हैं।

शुरु की मीटिंग्स जो स्कूल इन्तज़ामिया और टीचर्स के साथ हुईं, उनमें कभी भी बच्चे, उनकी पढ़ाई-लिखाई की तकलीफ़ या उनसे जुड़ा कोई भी मुद्दा सामने नहीं आया। यह सिलसिला बहुत हद तक आज भी जारी है। जिन चीज़ों की फ़िक्र और बातचीत होती है वह अमूमन स्कूल के स्टाफ़ से जुड़ी होती हैं। मैं यह मानती हूँ कि दोनों की अपनी अहमियत ही नहीं बल्कि आपस में जुड़ाव भी है लेकिन फ़िक्र और परेशानी के दायरे में बच्चे कम ही आते हैं। प्रिंसिपल साहब कितना वक़्त किन चीज़ों में खर्च करते हैं, अगर इसका एक ब्यौरा लेंगे तो पता चलेगा कि क़रीब पिच्वानवें फ़ीसद टाइम उस्तादों के प्रमोशन की फाइलें और दिल्ली सरकार के तालीमी महकमे से जुड़े मुद्दों और परेशानियों में खर्च करते हैं। यह सही है कि यह हमारे शिक्षा के ढांचे से जुड़ी हुई चीज़ें हैं लेकिन इनका सीधा ताल्लुक़ बच्चों के तालीमी मेयार से भी तो है। बच्चे क्या सीख पा रहे हैं या स्कूल क्यों छोड़ रहे हैं, स्कूल के आगे की पढ़ाई जारी रखने के काबिल क्या स्कूल उनकी तैयारी करवा रहा है, यह सब बातचीत के मुद्दे स्कूल की तरफ़ से पेश ही नहीं होते।

स्कूल का टाइमटेबल और कैलेंडर भी अध्यापकों की सहूलियत को दिमाग़ में रखकर बनाया जाता है। पांच रस्ट्रिक्टेड छुट्टियां जो स्कूल इन्तज़ामिया के हाथ में होती हैं, कैलेंडर में कहाँ पर दी जाएँ, इसका फैसला भी स्टाफ़ के ही हक़ में लिया जाता रहा है। छुट्टी के दिन कुछ इस तरह चुने जाते हैं कि आगे-पीछे शनिवार, इतवार या फिर कोई और छुट्टी हो। कई बार तो स्कूल लगातार दस-बारह दिन के लिए बन्द हो जाता है। यह गर्मी और सर्दी की लम्बी छुट्टियों के अलावा है। यह सिलसिला बदला तो है लेकिन शिकायतें जारी हैं, यह जानते-मानते हुए भी कि जब स्कूल लगातार काफ़ी दिन के लिए बन्द होता है तब बच्चों का दिल पढ़ाई से उचाट हो जाता है और वे खुद इससे भी ज़्यादा दिन के लिए स्कूल नहीं आते हैं। यहां यह याद रखने की ज़रूरत है कि ज़्यादातर बच्चे अपने परिवार की पहली पीढ़ी हैं जो शिक्षा पा रहे हैं और इन्हें ज़्यादा सहारे और वक़्त की ज़रूरत है। सिर्फ़ फैसलों में ही नहीं, लेकिन जिस तरह स्कूल के संसाधनों का इस्तेमाल होता है उसमें बच्चों की फ़िक्र तो कम ही नज़र आती है। यहां तक कि स्कूल का छोटा-सा मैदान, जो घर के नाम पर छोटे-छोटे कमरों में और गली-कूचों में रहने वाले इन बच्चों के लिए नेमत है, उसका भी एक बेतरतीब-सा इस्तेमाल रहता है। कुछ अध्यापक गाड़ियों से आते हैं, वे मैदान में कहीं पर भी अपनी गाड़ी खड़ी कर देते हैं, बजाय इसके कि सभी किसी एक तरफ़ पार्क करें। साथ ही यह ताकीद भी होती है कि गंद से गाड़ियों के शीशे न टूटें, जिसकी वजह से बच्चों के खेलने की जगह में कमी हो जाती है।

यह ही हाल स्कूल की थोड़ी ही सही, जमा पूंजी का है। सरकारी ज़बान में जिसे पहले बॉयज़ फंड (Boys Fund) कहते थे और अब जो प्यूपिल वेलफेयर फंड (Pupil Welfare Fund) कहलाता है, उसके नाम पर हर महीने अलग-अलग जमातों के बच्चों से दस से बीस रुपये तक जमा किए जाते थे जो कि सरकारी नियमों के अनुसार ही था। इस पैसे को बच्चों के लिए कहानियों की किताबें, खिलौने आदि खरीदने पर खर्च किया जा सकता है और शिक्षा विभाग की तरफ़ से यह खास निर्देश भी हैं कि उन्हें बच्चों के ऊपर ही खर्च किया जाए। हमारे बच्चों के पास झूलों, खिलौनों, किताबों की कमी के बावजूद स्कूल को कभी ख़्याल ही नहीं आया कि इस खाते को, जो बच्चों की ही अमानत है, बच्चों के लिए खर्च कर दिया जाए। स्कूल की पूंजी बस इसी खाते में मौजूद थी - जिसका कोई इस्तेमाल किया ही नहीं गया।

इसके अलावा, यह भी सवाल है कि स्कूल के नियम और कानून कितने बच्चों की ज़िन्दगी के सच को सामने रखकर बनाए और निभाए जाते हैं। शुरु में मैं खुद भी शामिल रही हूँ इस कोशिश में कि स्कूल के सभी बच्चे वक़्त पर यानी

कि सुबह सात बजे स्कूल में मौजूद रहें। जब मैनेजर और इन्तज़ामिया को इसकी कोशिश करते देखा तो टीचर्स ने तो हर तरह की सख्ती भी अपनाई। इस बात का ध्यान रखे बगैर कि स्कूल के बाद काम पर जाने वाले काफी बच्चे देर रात को जब घर पहुंचते हैं तो उनके लिए सुबह जल्दी उठकर वक़्त पर स्कूल पहुंचना कितना मुश्किल है।

यहां पर मैं यह कहना चाहूंगी कि शिक्षा तंत्र और बन्दोबस्त जितना भी सख्त हो या बच्चों का हिमायती न हो, फिर भी इससे जुड़े कई अध्यापक और लोग अपने तरीके और सुराग निकालते हैं कि किसी तरह बच्चों के स्कूली सफ़र को खुशगवार बनाया जाए। चाहे इनके कई फ़ैसले अंधे कानून की ज़बान में नियम लांघते हुए दिखाई पड़ें। ऐसा ही एक कानून है कि हाज़िरी 75 फ़ीसदी होनी चाहिए। यह नियम शिक्षा विभाग की तरफ़ से भी लागू होता है। बीमारी की हालत में डॉक्टर का सर्टिफ़िकेट दिखाने पर 15 फ़ीसदी की छूट है। हाल में पता चला कि एक बच्चे की हाज़िरी कम होने के बावजूद उसे इम्तिहान में बैठने दिया गया। आठवीं क्लास का यह बच्चा, स्कूल से घर पहुंचते ही फ़ौरन काम पर निकल जाता है। कारखाने से काम के बाद यह अक्सर रात ग्यारह-बारह बजे ही घर वापस आ पाता है। अपनी बेवा मां की घर चलाने में मदद करना इसकी मजबूरी है। कभी-कभी तो स्कूल इन मज़दूर बच्चों का हो ही जाता है, इनके हक़ में फ़ैसले लेकर! नियम और कानून चाहे अपनी जगह अड़े रहे लेकिन कभी अध्यापक या फिर कोई और अपनी-सी कोशिश करता है कि स्कूल बच्चों के हक़ में काम करे।

स्कूल में लोगों और बच्चों के ग़ैर-बराबरी के रिश्ते और उनसे जुड़े एहसास कुछ को तो फ़ायदा पहुंचाते हैं और कुछ को गहरा नुक़सान। आख़िर स्कूल किसके लिए है? मैं कह ही चुकी हूँ कि इसके नियम-कानून बच्चों को मरकज़ या केन्द्र में रखकर नहीं बनाए गए हैं। और बच्चों के अलावा नुक़सान के ख़ाने में जूनियर टीचर्स और कुछ कर्मचारी भी आते हैं। क्या यह स्कूल बच्चों को ख़्वाब दे पाएगा? और क्या उन ख़्वाबों की तरफ़ बढ़ने की हिम्मत और हुनर इन बच्चों के पास होंगे?

बुनियादी ज़रूरियात

चलिए, देखें कि इस ख़ास इदारे के बहुत ख़ास बच्चों की शिक्षा के लिए क्या आम-सा भी इन्तेज़ाम मुहय्या हो पाता है या नहीं। साथ ही क्या इन्हें यह स्कूल अपना-सा महसूस होता भी होगा या नहीं। स्कूल की पुरानी इमारत में हर कुछ दिन पर मरम्मत, बल्कि यूँ कहिए कि मरहम-पट्टी की ज़रूरत रहती है। कभी किसी छत या दीवार को मज़बूती देने के लिए गरडर लगवाने पड़ते हैं और कभी नया प्लास्टर। अब यह इमारत ज़्यादा दिन साथ नहीं दे पाएगी और बरसात के मौसम में तो डर-सा लगा रहता है। लेकिन, इस डर का शिकार स्कूल से जुड़े बड़े ही हैं, बच्चे नहीं। स्कूल का नक़शा, दिल्ली नगर निगम (एम.सी.डी.) से पास करवाना रोज़ नई अड़चनें पेश करता है। कई साल की मेहनत के बावजूद अभी यह मुमकिन नहीं हो पाया है। अगर नक़शा पास हो जाता है तो शायद कहीं से पैसे जुटा पाएं कि नई बिल्डिंग की तामीर हो। क्योंकि स्कूल से लगी बाहरी सड़क, स्कूल मैदान से कुछ ऊंची है, इसलिए ज़्यादा बारिश में क्लासों तक पानी भर जाता है और स्कूल की छुट्टी करनी पड़ती है। स्कूल के गेट के सामने पतली सड़क की दूसरी तरफ़ एम.सी.डी. का खुला पेशाब घर है, जिस वजह से वहां की और आसपास की नालियों की गन्दगी पानी के साथ स्कूल के अन्दर पहुंचती है। इस खुले पेशाब घर को स्कूल के सामने से हटवाने के लिए एम.सी.डी. को कई बार लिखा है लेकिन अभी तक कामयाबी नहीं मिली है। ख़ासतौर से स्कूल की बच्चियों और महिला टीचर्स को गेट के सामने से गुज़रने में रोज़ ही शर्मिन्दगी का सामना करना पड़ता है। स्कूल की एक दीवार से मिली, छोटे-मोटे कारखानों की ऊंची इमारत है। जहां के मुलाज़िमों के लिए कूड़ा बाहरी कूड़ेदान की बजाय, स्कूल में फेंकना ज़्यादा आसान होता है जिस कारण स्कूल में सफ़ाई की बड़ी परेशानी रहती है। हर कुछ दिन पर इन लोगों से मिन्नत करने पर यह सिलसिला कुछ रुकता है लेकिन फिर शुरू हो जाता है।

हमारा स्कूल पुरानी दिल्ली इलाके के चंद सरकारी स्कूलों में से है, जहां सीनियर सैकण्डरी में विज्ञान स्ट्रीम है। फ़िजिक्स, कैमिस्ट्री और बायलॉजी के लैब हैं, सी.बी.एस.ई. के कोर्स के हिसाब से ज़रूरत का सामान भी मौजूद है, लेकिन और

बेहतर करने की गुंजाइश है। तीनों लैब, लाइब्रेरी, कम्प्यूटर लैब, साइकॉलजी लैब, सभी नई इमारत में हैं। इनके अलावा छः कक्षाएं भी नई इमारत में लगती हैं। बाकी की सोलह कक्षाएं पुरानी इमारत में हैं। हमारी लाइब्रेरी में तकरीबन आठ हजार किताबें हैं, जिसमें से 2,500 कहानी और नज़्म की हैं। लेकिन नई किताबें काफी दिन से नहीं खरीदी गई हैं। पुरानी इमारत की एक दीवार से मिली हुई, पीछे की तरफ़ थोड़ी खाली जगह है। यहां छोटा-सा लॉन छोटे बच्चों के लिए बनवाया गया है, जहां अब कई तरह के झूले लगाए गए हैं। यह हमेशा ही प्राइमरी के बच्चों के इस्तेमाल में नहीं आ पाते हैं क्योंकि हमारे बड़े बच्चे भी अपना शौक पूरा करने में लग जाते हैं जिस वजह से झूले अक्सर टूटे-फूटे ही मिलते हैं। इसी जगह एक तरफ़ 6 टॉयलेट बने हुए हैं। बच्चों की संख्या देखते हुए यह कम है, साथ ही लगातार अच्छी सफ़ाई के मोहताज हैं। इसकी वजह यह है कि हमारे यहां सफ़ाई कर्मचारियों की खासी कमी है।

शायद स्कूल का बयान स्कूल की कुछ तकलीफ़दे-सी तस्वीर उभारता है, लेकिन मैं यहां यह कहना चाहूंगी कि इन सब कमियों के बावजूद हमारे बहुत से बच्चे सीखते हैं और अपने स्कूली सफ़र को कड़वाहट से भी नहीं देखते हैं। हां, यह समझने की ज़रूरत है कि हम ज्ञान किसे मान रहे हैं और पाठ्यचर्या को कैसे देख रहे हैं? बहुत से पुराने तालिब-ए-इल्म ऐसे हैं जो काम-काज की दुनिया में और अपने-अपने इदारों में खासे जाने जाते हैं। आगे के लेखों में कोशिश होगी यह समझने की कि स्कूल ने इस मुक़ाम तक पहुंचने में इनकी किस तरह की मदद की।

बहरहाल, अगले लेख में, मैं वापस अपने सफ़र की शुरुआत में जाऊंगी और समझने की कोशिश करूंगी कि मैंने मैनेजर की भूमिका को कैसे समझा और उसे किन-किन ज़िम्मेदारियों से जोड़ा। इस दौरान मेरा रिश्ता स्कूल से जुड़े लोगों से, जैसे स्कूल के अध्यापक, चाय वाले नसीम भाई, चौकीदार- जिन्होंने मेरे लिए पहले दिन स्कूल का गेट खोला था, प्रिंसिपल, वाइस प्रिंसिपल और दिल्ली एजूकेशन सोसाइटी के साथियों से कैसे और कैसा बना। इसी लेख में मुहल्ले के साथ स्कूल के रिश्ते की चर्चा भी करूंगी। साथ ही यह समझने की कोशिश होगी, कि हम सबके आपसी रिश्ते कैसे स्कूली जिन्दगी को और बच्चों की पढ़ाई-लिखाई को प्रभावित करते हैं। लेकिन मेरे सामने सबसे चुनौती भरा सवाल यह है कि क्या इस मायूस-सी दिखाई देने वाली तस्वीर में मैं कुछ रंग भर पाऊंगी? ♦

‘शिक्षा विमर्श’ द्वि-मासिक पत्रिका स्वामित्व एवं अन्य सूचनाओं से संबंधित विवरण

घोषणा फार्म-4 (नियम-8)

1. प्रकाशन का स्थान : जयपुर
2. प्रकाशन अवधि : द्वि-मासिक
3. मुद्रक का नाम : सुश्री रीना दास
नागरिकता : भारतीय
पता : दिगन्तर, टोडी रमजानीपुरा, जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान
4. प्रकाशक का नाम : सुश्री रीना दास
नागरिकता : भारतीय
पता : दिगन्तर, टोडी रमजानीपुरा, जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान
5. संपादक का नाम : विश्वंभर
नागरिकता : भारतीय
पता : 150/10, शिप्रापथ, मानसरोवर, जयपुर-302020 राजस्थान
6. उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों। : दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, टोडी रमजानीपुरा, जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान
7. मुद्रणालय का नाम : भालोटिया प्रिंटर्स
पता : 1/398, पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 राजस्थान

मैं रीना दास एतद् द्वारा घोषणा करती हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

30 मार्च, 2012

रीना दास
(प्रकाशक)